किरण-वधू

'नीरव' एम० ए०

प्रकाशक

एज्युकेशनल पब्लिशिंग कंपनी
चारबाग : : : . : : : : लखनऊ

आदरणीय अग्रज पं० मुन्नालालजी को
जिनका जीवन देश के काम आया ।

0152,1

1445

2816/03.

दो शब्द

'किरण-वधू' पथशूल के उपरान्त एक वर्ष तक की उन कविताओं का संग्रह है जो एक ही क्रम में लिखी गई हैं। एक लम्बी-सी कविता और उसके बाद एक गीत आया है। मेरी दोनों काव्यधाराओं के संगम इस संग्रह के स्थायी भाव मे स्वतः आये हुये गीत-संचारियों की यह व्यवस्था मुझे अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होती। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन करने-वाले साहित्यिक इस क्रम मे मेरी कल्पना की रुचि और मेरे दीर्घ-चिन्तन की प्रतिक्रिया का प्रतिबिम्ब देख सकते है।

प्रेम और आनन्द की अनुभूति का नाम यहाँ 'किरण-वधू' है। प्रेम और आनन्द जीवन के एक-देशीय यथार्थ हैं। इन पर युग की प्रेरणा का शासन रहे इसीलिये 'किरण-वधू' का हृदय युग की मूक पीड़ाओं को लेकर मुखर हो उठा है और संग्रह को यह नाम दिया गया है।

मेरे इन दो शब्दों के अतिरिक्त विशेष 'किरण-वधू' स्वय कहेगी और मेरे पाठकों को रुचेगी। ऐसा मेरा विश्वास है।

प्रयाग
१—१२—४५

'नीरव' एम० ए०

कविता-क्रम

किरण-वधू

तिमिर तिरोहित है
मिहिर ने झीना सा
हटा विमलाम्बर, मुख—
खोल ही दिया है, लाज—
कातर, दिशामुखी का।
नीलिमा-तरी से तिर
अम्बर-सरसी स्थिर स्थिर
कल्पना सी कामना सी
क्षोभ भरी मोद भरी
उतर रही है नई आभा सी
किरण-वधू।
तृण तरु सब मौन
मधुर 'कुलबुल कुल'
करता है, यत्र तत्र
आकुल जगा हुआ
विहंगम-कुल—

किरण-वधू नूपुर ध्वनि
करती उतर रही है।
क्षितिज पर्य्यङ्क—
अंग राग अग, रागभरा

किरण-वधू सालस
मन्थरता से आ रही है,
स्वर्ग की प्रभावती
हमारी शप्त-वसुधा पर।
देखो प्रिय ! देखो वे
अग जग, वे अखिल प्राण
चकित-दृष्टि—
मान-कामना से उसे
देखते हैं।
आप जो धनी हैं हरित वैभव से
दूर्वादल,
उनके मोतियों को
छीन लेती दीन-दक्षिणा वह।
सब पर है उसकी
न्याय से भरी समान दृष्टि।
देखो, वे अलिजन,

जो आप होगये सचेत
तोड़ रहे बन्धन
चीरते हैं क्रूर-कारागार।
और उन बुद्धिहीन
पशुओं पर पड़ता दण्ड
वे हैं असहाय—

शक्तिहीन, ज्ञानहीन मूक,
पशु हैं वे उन्हें नहीं
आत्मगौरव का ध्यान।

लूटा सरल सरसिजों का
जाता मकरन्द-कोष,
क्योंकि वे अकण्टक हैं
क्योंकि वे अहिंसक हैं
क्योंकि दल पात कर देती उनके प्रवात !

* * *

किरण-वधू के साथ
देखो प्रिय ! जग का मन
देखो जग का जीवन
विश्व देखता है नवकिरण-वधू की ओर।

अग्नि-पथ

रोकना मत बढ़ रहे हम
दहकते अंगार लेकर।

* * *

नष्ट करते आ रहे हैं
नृप नगर प्रासाद धन रथ
नग्न चरणों से चले हैं
है हमारा अग्निमय पथ।

हम बना देते विजन की
धूल से भी स्वर्ण लेकिन
ढो रहे हैं अग्नि ज्वालायें
मनुज आकार लेकर।

आँधियाँ कितनी चलें,
तूफान कितना भय दिखायें
चल उठें ऊँचे अचल
भूखण्ड तरुवर काँप जायें।

है जिन्हें मिटना मिटे वे
इस धरा से एक पल में
हम हुए पैदा न मिटने,
का अमिट अधिकार लेकर।

एक परिवर्त्तन हमारे साथ
अनुदिन आ रहा है,
एक पारावार आँखों में
नया लहरा रहा है।

क्या हमारा कर सकेंगी
रूढ़ियाँ प्राचीनतायें,
हम चले हैं एक पग पग
से नया संसार लेकर।

बाहु में बल नयन में नव
ध्येय, गति में लय प्रलय है,
घोर युग-संघर्ष में हैं आज
हम, हममें विजय है।

हैं हमारी ही विजय में
स्वर्णयुग की कल्पनायें,
कल्पना में भर रहे हम
सत्य सुख साकार लेकर।

कर रही बहती हुई 'सरसर'
हवा हमको इशारे,
हम बढ़ें यह भूमि, ये नभ
और ये सागर हमारे।

हम मिटा देंगे जगत पथ
के असमस्थल यातनायें,
हम रहेंगे प्राणियों के
स्वत्व स्वत्वाधार लेकर।

हम हरे हैं जिस तरह है
शस्य हरियाली हमारी
हम भरे हैं ज्यो भरी धन-
धान से वसुधा हमारी।

कौन हैं वे जो कि हमको
ध्वस्त करना चाहते हैं
हम रहेंगे आज उनका
देश लेकर द्वार लेकर।

नष्ट कर दे दीन जिस—
इतिहास ने हमको बताया,
भ्रष्ट कर दे हीन जिस—
आचार ने हमको बनाया।

अमर युग के पृष्ठ पर—
बलिदान है रचना हमारी
विश्व समझा है हमारा
मान, यह उपहार लेकर।

अमृत और विष

एक बड़े प्रख्यात नगर के
रम्य दीर्घ स्टेशन के पास—
स्टेशन, गति का निखिल रूप
वह, ममता प्रीति-रीति का
बञ्चक, जहाँ तृषातुर को
जल भी तो विना मूल्य के
प्राप्य नहीं था—

बाहर से भीतर, भीतर से
बाहर को पहुँचाने वाले
रेल पार कर बने मार्ग की दूर,
बहिर अंतिम सीमा पर

बैठे रहते,
बालक वृद्ध और वनितायें
नङ्गे भूखे अमिट दया के पात्र
बहुत से भीख माँगनेवाले।

तप्त तरणि से दग्ध-काय वे
सब के सब जब चले गये थे
यत्र तत्र अन्यत्र कहीं पर
बैठा रहा तथापि,

एक व्यक्ति कङ्कालमात्र अतिदीन
रूप से नव वयस्क-सा
जिसके शिर के बड़े-बडे घुँघराले काले
बाल, धूल से ढँके हुये थे।

'कुलकुल' करते बाल विहग कुल
जिनके पंखों पर हलकी सी
रोमराजि की मिट्टी का हो भार
अथवा वे थे—

अपरिपक्व कितने भावों की भाँति,
जिन्हें द्वार अभिव्यक्ति न देती
जो विस्मृति की धूमशिखा से
आच्छादित थे,

रूखे केश विरूप, किन्तु घन।
एक ओर का चरणदण्ड दृढ़
घुटने के ऊपरी भाग से
कटा हुआ था—

शुष्क आम्र के जीर्ण काष्ठ सा
जो जलते जलते ही जल से
शान्त शीत के हो जाने पर
आप शान्त कर दिया गया हो,

उसके अर्द्धदग्ध मुख के सम।
वह भिक्षुक सम्पूर्ण रूप में
अपहृत-वैभव-आर्यवर्त के
शीर्ण बुभुक्षाहत विराट का

अति लघु दर्शन—
बैठ पन्थ के सोपानों की
पुंजीभूत क्षीण छाया मे
अपना दक्षिण हस्त उठाकर

ऊँचा, नभ से गिर जाने का
करता सा सङ्केत धरा पर।
मुख से भी कुछ ऊँचे स्वर में
ऊँची ही था बात सुनाता, गाकर

सब कुछ ऊँचा था समीप पर
उसे नियति ने कौन कहे क्यों
इतना नीचा कर रक्खा था
इतना नीचा!

जग की अखिल वेदना अपने
लघु उर में भरकर बैठा था
किसी पथिक को देख, प्रहर्षित
वह न रोक पाता था जिसको।

* * *

उसी मार्ग से धीरे धीरे
म्लान वदन, नत नयन, श्रान्त तन,
एकाकी जन एक उतर कर आया।
और पूर्वगत—

कितने ही अज्ञात जनों की भाँति,
बिना दृष्टि डाले भिक्षुक पर
चला गया दो चार चरण
भू नाप अग्रपथ।
तब अपने सचेत श्रवणों से
उसने सुना एक कोमल स्वर
अभी अभी जो श्वासलाभ के हित

थोड़ा सा—
लेने को विश्राम, रुका था,
भिक्षुक अपना मन गाता था।
उसे ज्ञान क्या ?

उसमें है अनुभूति किसी की।
वह गाता था—
"जाओ मेरे प्राण सिधारो
तुम पर रहे दैव की छाया
अपना मिलन कभी फिर होगा
यदि सुकाल वह अवसर लाया"—
फिर कर पीछे एक दृष्टि से
सस्पृह,

उस पन्थी ने देखा,
और लौट आया भिक्षुक तक
तन्मय तथा आत्म बेसुध सा
स्तब्ध, शान्त वह।

अपने वस्त्रों में देखा कुछ

थोड़ी देर रहा खोया सा
तब तक कितनी बार—
गीत की ध्वनि ने अमृत की वर्षा की,

और पथिक उस अमृत के बल
पीता खड़ा रहा अपना विष।
तब मानों अपने को पाकर
एक रजत मुद्रा से उसने

सजा दिया भिक्षुक का खर कर।
मुट्ठी बाँध खोलकर फिर से
भिक्षुक बोला—
"रुपया! बाबू! जियो जियो तुम

पूरे हों अरमान तुम्हारे
इतने बडे जगत में केवल
एक तुम्हारा हृदय बड़ा है"
कुछ भी सुन न सका, संभवत
उसने सब चुपचाप सुना, वह—
देख रहा था।
दूर पहुँचती हुई ट्रेन दो मील
किये दृगों पर कर की छाया।

हन्त! मनुज ही तो था—
उसकी, दृष्टि थकी पलकें झुक आई
पीड़ित ग्रीवा हुई
और वह फिरा मौन
अपने गृह-पथ पर।
पिये अमित पीड़ा की मदिरा

वह अग जग को भूल रहा था।
वह मधु था, मद था जिसको पी
उसमें हर्ष और मस्ती थी
हर्ष और मस्ती में जिसके
जीवन था जीवन की गति थी।

* * *

जहाँ दीन को मुद्रा दी थी
वहीं कहीं भीगी सीपी सी
दोनों आँखों से दो मोती—
दो आँसू—निकले धीरे से
अरुण कपोल स्पर्श कर उसके
भू पर टपके और सुना दी
उसके उर की
वह उदार लय—प्रलय कहानी।

* * *

वह अति स्वस्थ
सबल वक्षस्थल
सुन्दर प्रात सूर्य तेजोमय
सिन्दूरी ऊषा रानी को—
अपनी भावुक प्राणप्रिया को
वचन बद्ध अपने ही मुख की
अपने विस्तृत मनोराज्य की
सम्राज्ञी को—
अभी विदा करके लौटा था।

* * *

दूर जा रही थी वह बाला
कितने सागर पार—

फ्रांस की भू पर
लड़ने जर्मन सेनाओं से
अथवा, अपने ही—
परतन्त्र देश के घायल वीरों की
सेवाहित
वह भारत की नारी,
कितने मास, वर्ष, कल्पों को।
कौन जानता
पुनर्मिलन का अवसर
प्रिय से आवेगा ही ?

विहग-गीत

[१]

क्या पक्षी भी कुछ गाते हैं ?
प्रिय ! गाते हैं अपने स्वर से
जीवन का राग सुनाते हैं।

रवि की रेखाओं से पहले
जागे स्वकर्म की ओर चले
उन स्वर्ग दिशाओं के पथ से
मधु के घट भर भर लाते हैं।

समझो न इसे कटु कोलाहल
यह प्रगति-प्राण जग की हलचल
अपना संघर्ष शान्ति अपनी
ये भाव इन्हीं को भाते हैं।

ये वृद्ध आत्मनिधि के प्रहरी
इनको न नींद आती गहरी
ये 'राम राम' जप से जग में
जो सोये उन्हें जगाते हैं।

ये पूर्ण समझते हित अनहित
पर उससे होते नहीं विजित
विप्रदग्ध धरा पर चिर अकाम
अपना अमृत बरसाते हैं।

जब इनकी रुचि थक जाती है
तब लौट प्रतिध्वनि आती है
"हम पूर्ण पुरातन से अपने
नूतन का साज मिलाते हैं।"

विहग—गीत

[२]

मन की गति से उड़ने वाले
बन्धन की बातें क्या जानें ?

जी में आया उड़ चले और
ली नाप पलों में वसुन्धरा
जिस शुष्क दीन तरु पर बैठे
कर दिया उसे सम्पूर्ण हरा
जीवन की उष्मा से पुलकित
हम हिम बरसातें क्या जानें ?

हम नहीं क्रूर शासक जग के
हम हेय नही हम हन्य नहीं
जिसने अपना समझा हमको
हम उसके ही हैं अन्य नहीं
उर में ममता ढोनेवाले
छलबल की घातें क्या जानें ?

हम मे 'कोयल' हम में 'चातक'
हम 'पी' का राग विराग भरे
अम्बर की गोद सजाते हैं
नव स्वप्नों का अनुराग भरे
किसकी कैसे कट जाती हैं
आँखों में रातें क्या जाने !

विहंग-गीत

[३]

गा रहे विहग-गीत।

भूमि भग्न-भाल है
व्योम लाल लाल है
आ रहा प्रकाश-पुंज
धुंध अंधकार जीत।
गा रहे विहग गीत।

एक एक साथ है
एक गति अबाध है
एक की अनेक की
सुटेक एक-एक रीत।
गा रहे विहंग गीत।

साथ साथ बढ चलो
साथ साथ चढ चलो
विश्व को प्रबोध शोध
का स्वभाव दो अभीत।
गा रहे विहग गीत।

पद्म का प्रसार हो
उच्च ध्येय द्वार हो
हो न प्राण साथ साथ
मान भावना विनीत ।
गा रहे विहंग गीत ।

मत दबो विचार से
दबो न कर्म भार से
कर्म शान्ति पाप है
कर्म-वेदना पुनीत ।
गा रहे विहग गीत ।

तुम भी दृग उघार लो
तुम भी सुन पुकार लो
नष्ट रात, नव्य प्रात
झाँक वह रहा अतीत ।
गा रहे विहग गीत ।

विहंग-गीत

[४]

हम जग के तरु तृण देख रहे।
जग की ज्वाला में दग्धशान्त
जीवन-तप के प्रण देख रहे।

यौवन-वय सी प्रातःसमीर
सरि के अधीर वे तरल तीर
लय की झंझा में मरणोन्मुख
गति विधि के कण कण देख रहे।

हम देख रहे हैं भूमिभाग
नभ पर जिसका अक्षय सुहाग
जिनमे सागर लहराता है
हम ऐसे निर्जन देख रहे।

दिन ढला निशा बढ कर आई
तारों के दीप सजा लाई
जिनसे मिलकर युग बनता है
वे मौन अमिट क्षण देख रहे।

मनुजो के अगणित धरा धाम
यह जराग्रस्त भूकम्प-क्राम
वैभव के जग मे वैभव की
लघुता के लक्षण देख रहे।

दो चिताओं का रक्षक

शिशिर ऋतु की थी रात
रात भर होता रहा था,
घोर हिम पात।
सारे दिन मेघों ने

प्रकुपित हो अम्बर से
धरा पर ला ला कर
सागर उँडेल दिया।
हो गये विराम लीन।
प्राची दिशा से तीर—
सदृश, किरण आभा ने
चीर कर कुहासे का
झीना कलेवर, दृष्टि

डाल ही तो दी थी उस
विजन-वन-प्रान्तर में।
दो ही घड़ियों के बाद
भंग लगी होने वह
स्तब्धता अरण्यक की,

सुमौनता प्रशान्त और
करुण गंभीरता
'हा हा' और 'ही ही'
चीत्कार घन करता हुआ
कम्पित दिशाओं को
गिराता सा तरुओं को
हिंसक भी वन्य—
जंतुओं को भगाता हुआ
हो गया प्रविष्ट
सैनिकों का समुदाय एक
ऊँचे शैल-खण्ड के—
सुवृत्ताकार प्रांगण में।
वहाँ उत्तग तरु
अन्य पादपो को निज
बॉधे भुज-पाश मे थे
एक परिवार के अनेक
बन्धु पीडित से।
वन्य वेलियों ने गाढ़
करते हुए परिरम्भ,
रचे थे वितान सघन।
वहाँ चारो ओर से
खुला था एक भूभाग
परिवृत उन तरुओं से,
जिसके ठीक मध्य मे ही
एक वृद्ध ऊँचा, विशाल तरु बॉभ कथा।
सैनिक वहाँ पहुँचे
और खोज कर झाड़ी झाड़ी
पल्लव प्रति पल्लव

तृण गुल्म तथा कुशा जाल
बैठ गये श्रान्त उसी
तरु के तले दो चार
शस्त्र कर पृथक निज
चरण भुजा प्रसार।
और 'दस पाँच' यत्र तत्र
भ्रम में ही रहे।
वहीं एक सैनिक ने
देखा था पड़ा एक
मृतक कलेवर पच-वर्षीय शिशु म्लान
घुटने और कुहनियाँ थीं
जिसकी जुड़ गईं साथ।
नील अधर, नील मुख पार्श्व —
जिन पर थे शेष
मुक्त अश्रु धारा के
अति ही स्पष्ट चिह्न।
सैनिक ने देख उसे
अपने भारी पैर की
ठोकर से मार कर
फेंक दिया दो हाथ
आगे, फिर छेद सगीन से घुमाया उसे
चाहा वे जला दें उसे
किन्तु गीली भूमि
और गीला काष्टादि वर्ग!
उसे भूमि खोद
दाब देने की दिखाई दया!
वे तो लौट आये किन्तु
लौटा वह न शिशु जो वहाँ

सोया था सदा के लिये।
लौट भी सकता तो
जाता कहाँ किस ओर ?
कौन उसका था इस विस्तृत वसुधरा में।

* * *

विजयी विदेशी लोग
जीत मंचूरिया को
कितने वर्षों से—
करते थे मनमाना राज्य,
अत्याचार, अनाचार।

* * *

एक समय पीड़ित
दुशासित प्रजा ने दीन
मृत्यु और जीवन की
सावधान तुलना की।
जीवन की ओर मिली
रूक्ष शुष्क रोटियाँ औ'
दृग के आँसुओं का नीर
बाल अबलाओं के,
अतुल अत्याचार का बल
अपने ही धन पर जहाँ
अपना अधिकार न था।
मरण की ओर ?
कर्त्तव्य और ममता थे
कर्मभावना से पूर्ण
जीवन के प्रेरक प्राण,
जहाँ मरण जीवन से
माँग उठता था विष,

वहाँ नहीं अपनी
आँखों से देखते थे जन;
अपना ही अति—
दयनीय उपसहार ।
फिर क्या वे रिक्त हस्त
किन्तु मन से सशक्त
दासता की वेड़ियों में
बँधे होने पर भी तो
उठ पडे, चल दिये
और चल दिये सवेग ।
क्रान्ति महाक्रान्ति के
सरोष घोष दुर्धर से
घोष के प्रतिध्वनि से
बोल उठे दिग्ग्राम,
भूधर भू अंतरिक्ष ।
"मरना ही है तो मरा
बन्धन में क्यों जाय
अच्छा अपमानित
सुख से है दुखी स्वाभिमान।
मरेगे स्वतन्त्रता के
वीर गीत गाते हुये
मरेगे अतीत की
सरीत कीर्ति गाते हुये
मान को बचाते
अवमान को भगाते हुये
शत्रु का दर्प चूर्ण
धूल में मिलाते हुये
विश्व को स्वतन्त्रता का

मूल्य सिखलाते हुये"
सिन्धु विश्व का विकार भाव,
सहता असीम,
किन्तु यदि सीमा से बाहर हो जाय तब ?
जितना हुआ था
युगों से वह प्रबल अत्याचार
उतनी ही बलवती
उसकी थी प्रतिक्रिया ।
हिल गई शासन की
नीव खडी बालुका पर ।
एक भूकम्प ने गिरा दिया
धरा पर वह
गगन को छूता
राजभवन आततायियो का;
शोषको का उन
उन मानव हृदय के कटु
क्रूर समालोचको का ।
अन्तत. स्वभावतः
सबल प्रतिपक्ष से भी
तोप उठी गरज
क्रूर काल ही के चक्र से वे
घूम उठे शस्त्र वक्र ।
अग्नि बढी चारो ओर
एक दिन दो दिन पंच दश
रात दिन
दिवसों तक चलता रहा वह
कठिन दमन चक्र
राक्षसी व्यापार

संतो की सहिष्णुता से
राजसत्ता का घोर।

* * *

बन्धन से छूटने में
व्यस्त हो गया समस्त
धूलत्रस्त, उनका देश
वीर देशभक्तों को मृत्युमय जीवन की
प्राप्ति हुई, उनका था वही ध्येय।
सम्बल की योजना
स्वतंत्रता के पथिकों को।
सोई वीर रमणियाँ बहु
अग्नि-शिखा-शय्या पर।
वृद्ध कुछ रहे अवशेष
वे दया के पात्र।
बन्दी हो गई थी चार
षोड़शी कुमारिकायें।
"तुम क्या चाहती हो" यह
पूछा गया उनसे तो
बोलीं समवेत "वही
जाना गये जिस ओर
तात, मात बान्धव हमारे सम्बन्धी सब"
"गोली खाओगी या
चरण चुम्बन कर जीवनदान
भिक्षा के रूप, सबल—
शासन से माँगोगी
यही हैं तुम्हारे हेतु
मुक्त केवल दो द्वार।"
"दुष्ट दुर्वृत्तो ! क्या

बार बार पूछते हो
उन्नत हमारे वक्ष पर हो
वृष्टि गोलियों की
चरण चूमना है कायरों की
भावना का काम।"
कुछ ही क्षण बाद
धॉय धॉय धॉय धॉय चार
गोली चलीं—
चार वीर बालाये गिर गई
पृथ्वी पर।

* * *

शान्ति हो गई थी किन्तु
राजनीति शंका से
अब भी कुछ बन्दी बना ही लिये जाते थे।
तीन वर्षों के बाद
जब इस अग्निआभा पर
ऊपर से उडकर
आ पडी थी जडता की धूल।
रवि बिम्ब जिसके
सुराशीकृत तेज सा था
तम का प्रकाश?
नहीं, कण्टको का अग्निपुज
एक शूर 'क्याऊ चाऊ'
पकडा गया था दूर
'क्वीनलून' घाटियो मे
और प ्चाया गया
'टोकियो' की कारा को।
उसका अपराध था कि सत्य या असत्य

देशद्रोहियों के साथ ही
कौतुक की प्रेरणा से—
अग्निमय उसने कर दिया था
मुग्डेन-दुर्ग।
तब वह पन्द्रह वर्ष का था
आज उस अष्टदशवर्षीय
युवक को,
मृत्यु का दण्ड मिला।
कहा गया "मृत्यु-मुक्ति
छोड़कर केवल एक,
कामना तुम्हारी शीघ्र पूर्ण की जायेगी।
बोलो विवेक से तुम्हारी अभिलाषा क्या?"

"आज मैं बन्दी हूँ
और परदेश में हूँ
मेरे देश सुन्दर मन्चूरिया
के उत्तर में
ऊँचा सा शैलखण्ड,
जिसके सुरम्य—
सघन वन की उपत्यका में
मेरी जन्मभूमि
मेरा छोटा सा एक ग्राम,
जिससे कुछ दूर
घने पादपसमूहों में
एक बाँझ-वृक्ष बड़ा
उसी के नीचे मुझे
गोली से मारा जाय
मेरी चिता हो उसी पादप की छाया में

मैंने कठोर वहाँ,
उस दिन अकेले
परिवार के प्रकाश पचवर्षीय
सहोदर को भू पर पड़ा छोड़ा था
हिम से भी शीत, हिम वर्षा की रजनी में
इस कामना से कि किसी को मिल जाये
तो उसके बच जायें प्राण।

वह असहाय वहाँ
वात-शीत-भय की अतिरेकता से
मरा होगा।
हम दोनों भाई भाई
साथ साथ सोवेंगे।
अनुज वह मेरा आज
स्वर्ग में तो अग्रज है
उसके लिये फिर इतना ही सम्मान सही।"

* * *

उसी बाँझ वृक्षतले
'क्याऊ चाऊ' वीर को
गोली से गिराया गया
सहस्र और अर्बुद की संख्या मे
आगत जन—कायर मन—
मानस में रोये, पिला दिये अश्रु आँखो को
आज युग बीत गया
सोये भूगर्भ में वे
अब भी दिखाई दो कुमार वीर देते हैं।

* * *

एक दिन फिर

घटा घिरी घोर वृष्टि हुई
उपल गिरे घने से
महान हिमपात हुआ

'कड़क कड़क घन घनन घड़ाड धा ङि
धाङि धाङि' करती हुई
बिजली आ गिरी उस
बॉझ तरु पुंगव पर।
आज वह अर्द्धदग्ध
तनमात्र शुष्क काष्ठ
रक्षक खड़ा है दो अमर चिताओं का
अबकी आवृत्ति में
अवशेष गिरने के लिये।

गीत

पथ न भूल जाओ तुम
प्राणों की छाया में
प्राणधनी आओ तुम।

थकते हैं चारु चरण
यह गति चिर जन्ममरण
निद्रा का तम प्रगाढ
स्वप्न-भार लाओ तुम।

वसुधा तल अश्रुविन्दु
मौक्तिक बन गया सिन्धु
अम्बर की आँखों से—
रोता जग गाओ तुम।

मीलित दिक् दृग अचल
कोई कर दूर सफल
देता है यशोदान—
अंचल भर पाओ तुम।

एँ ! यह कैसी पुकार
प्रिय के हित वन्द द्वार
स्वागत ऋतुराज आज
स्वप्न-सत्य आओ तुम।

शताब्दी

देख रहे द्रुम दूर्वादल
क्रीड़ास्थल, उज्ज्वल
सुमनहार सोल्लास सकल
उत्सुक अतीत की ओर।

आ रही वह सुकुमार
सजाती पल पल नव शृंगार
चिर अशान्त, अस्थिर मति, द्रुतगति
मन सी तरुण सवेग,
जगाती कण कण मे उत्साह
समय के पद चिह्नो को देख
मान करती शताब्दी आज;
ठीक पूरे सौ बरसों बाद।
अरे वह युग! कैसा था पूर्व
बता सकता है कौन?
तुम्हें है क्या कुछ याद
सुनो, एला शाखिन! क्यो मौन?

पूछ लो नभ से क्यों न।
बुद्धमन से गंभीर रसाल
गहन तल, घन पल्लव, सुविशाल
व्यथा चिन्ता से हीन
न तुम भी क्या उतने प्राचीन ?

छेड़ सरलता से मृदु मर्मर
शान्त नवल निर्झर सा 'झर झर'
उन्मद स्वर, पल्लव द्रुत लय पर
कौतूहल-कर अमर सुना दो

* * *

बीते युग की बात।
जिसकी बहु विभूति से तारक
व्योम जगत में बिखरे अब तक
हीरे अगण जडे हैं जिसकी
नित्य नव्य नीलम प्यालों में
जिसका स्वर्ण भार लेकर ही
जग की धूल स्वर्ण ढोती है।
उन्हें हाँ, होगा याद,

अरे ! जिन पाकरपुंजों बीच
वायु भर 'सन सन सन' की साँस
एक पल में इससे उस ओर
जगा जाती जिनका सोता उन्माद।
उन दिनों था बालक संसार
आज के मानव का स्वर और
और हैं उसके तार
चले आते युग चक्रों बीच

उसे जाना है पार।
एक सी तुम तो किन्तु समीर
एक तुमको सुख पीर
चलो, कलियों का घूँघट खोल
दिखा दो इस युग का नव मोल
कला हीन यह पूर्ण प्रकाशित

तन का मन का प्राणों का बल
खोकर भी जो पुष्ट बना है
तरुण काय सा।
छोड़ दूर की बात
करो चित्रित शत शत परिवर्तन
घन शत शत वर्षीय चिरन्तन।
मानवता ने प्रथम बार जब
स्वप्ननीड़ से मुख निकाल कर
ली थी हलकी
स्वतन्त्रता की साँस।
शिशिर निपीड़ित मानव तरु पर
पूर्ण पुरातन द्वद से पावन
उभर रही मासल हरियाली।

* * *

समय शूर ने
गिनकर छोड़े हैं ये शत शर
विद्ध पड़ा है युग का कटुस्वर—
क्रूर असुन्दर
और कराह रहे मानव के
बहु पीड़ा चीत्कार।
टूट रहे हैं वे जड़ बन्धन

तन मन जिनके विषम भार से
नत था क्षण क्षण ।
आकुल जन घनरोर
विपुल वन निर्जन गृहपथ
घेर रहा है ।

"तोड़ो तोड़ो
लौह निगड़ कारा दीवारें
सकल कलुष आटोप द्वेष छल ।
मानव मानव एक,
एक का रहे अपर पर कैसा शासन !
एक दर्पमय, एक दीन-मन

एक हेय
पर अपर बना है
सकल समस्त श्रेय का भागी ।
तोड़ो यह अविवेक द्वार सब
द्विधा-भावना की सीमायें
यह न धर्म है
यह न कर्मपथ ।
यह विभेद विष वृक्ष बढ़ा है
अगणस्तम्भ शाखा पत्रों से
करो शीघ्र उन्मूल ।"
युग कधों पर चलनेवाली !
सबल काल की श्वास वहिर्गत !
जराग्रस्त भी,
नव, शताब्दि ! तुम देखो ।
एक ओर नव नगर धवल धन धाम—

खड़े हैं

एक ओर गृह-हीन पड़े हैं,
कितने जर्जर दीन बुभुक्षित
इस विराट उर के अपमानीकृत भावों से।
मानों ये अपहृत-सुख, जग का
मूर्तिमान दुख।

इनको मरने का भी मानों
मिला नहीं अधिकार।
जग का सारा धन सुख वैभव
बन्दी है उन प्रासादों में
जिन तक जग के पीड़ित उर की
पहुँच नहीं पाती है कोई करुण पुकार।
प्रतिभा भूखों से मरती है
पाला जाता है पल पल अपमान
प्रेम बना है धनवानों की
बहु विलास अनुभूति।
पर अब ये मिटते जाते हैं

असम भाव सब
व्यक्तिभेद औ' धर्माडम्बर।
आरोपित शतवर्ष पूर्व की थी
जिसकी जड़
देख रही हो आज उसी
ध्वंसोन्मुखी भौतिकता की गति।

* * *

आज क्रान्ति की लहर

उठी पीड़ित प्राणों से
जग के पोषक
किन्तु जगत की अमिट घृणा के पात्र
अमिट श्रम, चिर क्लम, अक्लम
निर्धन और धनी के परभृत व्यवधानों से
हो जायेंगे सम, जीवन के
असम धरा सर सरित नगर वन।
मानवता ही नव मानव का
धर्म बनेगी।

शासित युग की आकांक्षा से
होगा लोक-विधान—
व्यक्ति होगा अपना सम्राट।
मिट जायेगा यह वासना विलास
मनुज की जो विभूति का
दानव-मन था।
होंगे मानव देव
स्वर्ग सी धरा बनेगी
सत्य प्रेम समभाव
हमारे पूज्य बनेंगे।
फिर न रहेंगे प्राण उपेक्षित
अट्टहास फिर कर न सकेगी
क्रूर सभ्यता विपुल व्यङ्गय से।

* * *

ओ अदृष्ट की ज्ञात शासिके!
देखोगी वीरों का नव जग
चिर स्वतन्त्र सम्पूर्ण, स्वभृत, सम
जबकि पुनः फिर तुम आओगी।

धरा व्योम जलनिधि की सारी
टूट चुकेंगी ये सीमायें
कवि गायेगा मुक्त कण्ठ से
मुक्तिगीत,
नव मुक्ति गीत
कर ग्रहण मुक्ति-पथ ।

गीत

हम जीवन के संघर्षों से
इस पार नहीं उस पार नहीं।
प्रिय ! अपना पथ शूलों का पथ
यह फूलों का व्यापार नहीं।

बह रहे कभी दृग दो भर कर
पी रहे कभी मधु हास अधर
जीवन दुख का सुख का सम पथ
सविकार नहीं अविकार नहीं।
आँखों से आँखों की सहमति
अपने उर से अपनी अभिगति
तप की आकृति से हिल जाये
ऐसा सहृदय ससार नहीं

जीवन, जीवन-द्युति से संवृत
ले लाभ, लाभ-मति से उपकृत
यदि परवशता से कर पाये
उपकार न तो अपकार नहीं।

जीते जग का जीवित जर्जर
जो पाल रहा शुभश्रेयस्कर
गुणग्राहकता की मृत्यु बने
गुण को ही गुण का भार नहीं।

पा सकें सभी अपना अवसर
यदि मान नहीं अपमान न, पर—
मानव को मानव की रुचि के
शासन का कुछ अधिकार नहीं।

सरकारी दवा

अस्त मुख किरण विहीन शशि बिम्बमात्र
पहुँच रहा था हत-पथिक अपर ओर
ओर छोर घूम आ गई थीं मध्य अम्बर में
मृगशिर तारिकायें मौन अभिसारिकायें —
एक दूसरे का पहिचानती हुई सी मन
सलज हताश और आत्म ग्लानि पीड़िता सी।
एक शुक्र तारक प्रकाशपूर्ण जागता था
मौन नभ मे निरभ्र, सारी जगती के जब—
निद्रा के अंकों में सोते जड़जगम थे।
'जोतो खोदो' विहगकुमारिका सुना दो शब्द
एक पल देती हुई मन्द स्वर को विराम
'जोतो खोदो' आप ही अकेली बोल उठती थी।
एकाकी अपूर्व ब्रह्मवेला से बहुत पूर्व
बुद्ध पशु और सोते सरल पक्षियों के बीच
बुद्ध परब्रह्म कृषक कब का था जाग चुका।
स्वस्थ दीर्घकाय पृथु वृषभों की पीठ ठोंक
देखता था प्रमुदित वह जैसे कहीं देखा हो
साधना ने मानो दो रूपों में अपना शिव।

सोया हुआ देखा फिर लौह पंजरस्थ कीर
अग्नि-से विभूति हटा तप्त किये शीतहाथ।
"टिकुआ की माँ री! पानी जल्दी से लाना आज
क्योंकि खेत पूरा जोत धूमे दिन आना है"
कहा गृहिणी से यह पुकार और चलने लगा
वृषभों के पीन स्कंधों में गुरु जुआ डाल
हल को उठाकर रख अपने ही कंधों पर।
फट से दिया छींक कहीं जागते पड़ोसी ने
थोड़ी देर शंका से रुका अनिष्ट भय से किन्तु
चला ही भाग्य का भरोसा लिये अपने साथ

* * *

वृषभों की काया पर लगाता विलम्बित ताल—
पैने * से, गाता हुआ मस्ती के मधुर गीत
रुचि से निकालता रहा वह वहाँ अपना खेत
एक प्रहर दिन चढ़ आया और रविकर के
प्रखर कर होने लगी बढ़ने लगी क्षुधाप्यास
हल को रोक देखने लगा वह निज गृह—
की ओर।
थोड़ी देर हुई किन्तु कोई न दिखाई दिया
क्षीण होने लगा काम करने का उत्साह
स्नेह भरे मानस में क्रोध ने करवट ली
वक्र हुई त्रकुटि सरल भृकुटि भंगिमा से
लास्य की तरंगों में जाग पड़ा ताण्डव फिर
पड़ने लगा पीठ पर 'तड़ातड़' दण्ड—
वृषभों के—
और अस्तव्यस्त खेत शीघ्र शीघ्र

* ग्रामीणों की बोली में छड़ी के लिये।

जुतने लगा।
क्षुधा तो थी ही किन्तु सूखा जा रहा था गला
इसी से क्रोध आ रहा था विपुल प्रमदा पर।
कृषक के मन में गृह जाकर शान्त वसुधा को
महाभारत करने की बार बार वेगवती
इच्छा हो जाती थी।
दी तभी दिखाई दौडी आती हुई बालिका जो
'बापू' अति रोती हुई 'बापू' पुकारती थी।
खेत में आते गति चरणों की मन्द हुई
तीव्रतर किन्तु स्वर हो गया था रोने का।
कृषक ने हलकी सी सॉटियॉ लगा दीं दो
'रोती हुई दौडी चली आ रही है रीते हाथ
फेंक आई है क्या 'चवेना' * कहीं रास्ते में
'बापू अमूमअम्मा को सॉप ने काट लिया'
कहते हुये बालिका की हिचकी बॅध गई—
और कण्ठ अवरुद्ध हुआ।

* * *

बैगी† था किसान उसे अपने मत्र तत्रों में
पूरा विश्वास रहा।
शीघ्र हल छोड चल दिया निज गृह ओर।
कम्पित थे चरण हिल जाता था अंग अंग
चरणों के नीचे से भूमि निकल जाती थी
और कृषक उडने लगता था आप नभ बीच
मानो स्वप्नभीति से गये हों लग उसके पंख—
बैल दे रहे थे दिखाई बडे भूतों से,
मरण के दूतों से अग्रगामी बने हुये।

---

* प्रातराश।
† सपेरा, तंत्रमंत्र द्वारा सर्पकाटे की चिकित्सा करने वाला वैद्य

तृण तरु खेत खलिहानों का ध्यान न था
चला जा रहा था फेंकता शरीर हत चेत
भूख मर गई थी भूख ही से और प्यास
का तो, अपनी ही प्यास से कंठ सूख
आया था।
सत्य नारायण की कथा, थान, बलि आदि
बोले गये कितने ध्वजा नियोग औ' प्रसाद।
थोड़ी देर बाद घर आया तो देखी वहाँ
सच्चे सामाजिक ग्रामवासियों की घनी भीड़
निकट पड़ोसी यत्र तत्र दौड़ाये गये।
'बैगी' के घर आये कितने ही बैगी लोग।
गृह द्वार बहिर एक पीपल के तरु तले
तक्षक क्षत महिला को मुँह ढँक बिठाया गया।
मटकी के ऊपर बड़ा फूल का रक्खा हुआ
'घनन घनन घड झाड झाड' बजा थाल।
एक दिन और एक रात भर एक तार
बजती ही रही ढॉक*।
किसी ने सयाने एरण्ड की सुनालिका से
नासिका की नालिकाओं में दी फूँक कोई दवा।
किसी ने दृगों मे तीव्र अंजन का लेप किया
मुँह में भर पात्रों से घृत भी उँडेला गया
बहुत नीम पत्तियाँ खिलाई गई घोर घोर
कोई जन महिला को हिला हिला कर कहता था
ताम्रचूर पद्म और तक्षक की आन तुम्हें
बोलो सर्प कुलियों मे कौन कुली वाले तुम
सर्पराज वासुकि की आन तुम्हें बोलो तो।
किन्तु सब व्यर्थ बैलगाड़ी सम्हाली गई,

---

*· मटकी और थाल का सयुक्त वाद्य

भाग्यवादियों ने दी दुहाई जगनियन्ता की
भक्त लोग धर्म पुण्य चर्चा चलाने लगे,
और अन्य व्यक्ति लगे कोशने विवशता को।
गाड़ी पर टिकुआ की माँ वह जा रही थी अब
गंगा में स्नान हेतु।
पूर्णिमा के दिन का स्नान भाग्य में न उसके था
किन्तु वह सोयेगी अतल मे अनन्तकाल
आज प्रतिपदा के दिवस।
टिकुआ तब गया माँ की शीर्ण शय्या के पास
जहाँ जीर्ण वसनों मे सोया पड़ा हुआ था
शिशु नव महीने का सुन्दर उसी का बन्धु
अति शीत, नीलकाय,
पान कर चुका था माँ के स्तन्य साथ सर्पविष
रक्खा गया माँ के पास अपूर्णता की पूर्णता सा।
कृषक बाल था वह देशशासक या कलाकार
इसे जान पाता भी कोई तो होता क्या ?

* * *

गंगा के किनारे अपढ़ भोले ग्रामीणों की
एक छोटी टोली जा बैठी रेणु शय्या पर।
सैकत से भरे मृत्तिका के दो पूर्ण पात्र
बाँधे गये उस बड़े शव के शिर पैरों में
और उसे छोड़ दिया गया मध्य धारा में।
वहीं तटरेणु में खोदी गई थोड़ी भूमि,
मृदुल गोद, ममता में माता की सोनेवाले
छोटे उस बालक को उसी में सुलाया गया,
दबा दिया गया विपुल भार बालुका से फिर।
शिर की ओर एक भग्नयष्टि गाड़ स्मारक रूप
लौट आये लोग सब गाँव के अति उदास।

कृषक आकर बैठा था वहीं चलदल तल
साथ टिकुआ था और छोटी वही बालिका थी।
अपना शोक दाबे हुये समझा रहा था वह
अपना अबोध शेष छोटा सा परिवार।

गाँव के मदरसे के मिडिल पास मुन्शी से
चौकीदार अपनी किताब में लिखाकर मृत्यु
आया वहाँ कहने लगा और उस किसान से यह
'सुनना न चाहो सर्प विष भरी गालियाँ
खाना न चाहो कोडों की कड़ी मार तो कल
रखना तैयार यही बड़ी भेंट लेने को –
आयेंगे थानेदार, बड़े थानेदार बड़े,
साँप आया कहाँ से तुमने बडी हत्या की।
रोने लगी फूट फूट बालिका सुना जब यह
टूट गया कृषक के धीरज का दीर्घ सेतु
निकल पडे आँसू दो चार फिर सम्हल गया

* * *

उसी समय आया कहीं दूर से कोई जन
और पास बैठकर कृषक जनों के कुछ—
कहने लगा प्रीति से भरे सहानुभूति शब्द
जिनकी हरियाली शस्यनिधि से सब हरे भरे
जिनकी दुग्ध धारा से सुरक्षित समस्त प्राण
उन्हीं धन ज्ञान और साधनहीन कृषकों को
वैद्य जी यह देते फिरते थे सरकारी दवा
किन्तु एक दिन पूर्व इससे आ नहीं सके
आ भी सकते तो क्या 'ईसबगोली भूसी' थी
खाँसी की गोलियाँ बनी बबूल काढ़े की
कुछ सिनकोना की झड़ी हुई टिकियाँ थीं

ग्रौर थी थोड़ी सी 'परमैग्नेट पुटाश'
इसी बल पर यह
ग्राम ग्राम ग्राम वासियो का
चलते हुये वैद्य
उद्धार किया करते थे।
नौकर सरकारी थे
मुफ़्त बॉटते थे
सर्वत्र सरकारी दवा।

गीत

शशि हँसता है तो—
नभ फूला न समाता।

बन बन जातीं प्रिय!
अमृत, अधर की बातें
सोने !स्वप्नों से
चढ़ीं चाँदनी रातें

मलयानिल आता
तारक-दीप बुझाता।
शशि छिपता है तो
नभ उदास हो जाता।

फिर सूझ न पातीं
अधर अमृत की बातें।
तम का सागर बन
जाती सूनी रातें।

मलयानिल सोये—
तृण तरु पात जगाता।

अपनी भी हैं नभ की
शशि की सी बातें
अपनी भी हैं चाँदी—
की तम की रातें।

पर यहाँ न कोई
जलती ज्वाल बुझाता
पर यहाँ न कोई
सोये भाव जगाता।

पपीहे की जन्मान्तर कथा

मेरे गॉव मे है एक व्यक्ति
जोधूराम नाम ।
जब मैं वहाँ जाता हूँ तो मेरे पास आकर वह
दीनता की मूर्ति साधुता का भव्य जीवन सा
शोषण परम्परा का दयनीय परिणाम
कितनी ही भॉति की कथायें कहा करता है ।

* * *

"एक बार बोला कुछ बाबूजी सुनाइयेगा
कैसा वह देश जहाँ आप रहा करते हैं ।
कैसा लोक जीवन है वहाँ का और कैसी रुचि ?"
मैंने कहा 'जोधू तुम सुनाओ कोई नव्य गाथ
भाग्य की विवशता की और उस
विवशता के पुण्य प्रतीकार ही की
सुखद कहानी एक' ।
बोला फिर जोधूराम
"बाबू जी सुनिये एक राजा था वीर व्रती ।
एक बार राजदम्पति को कहीं मृगया हेतु
गये वन निर्जन में घूमते हो गई रात ।

बन गया शिविर ठहर गये सेना सेनप सब
कुछ दूर राजा और रानी का निवास बना।
निशा के अन्तिम प्रहरों मे पूर्णिमा की विभा
कामिनी के हास विस्तार सी सुप्रसरित थी।
उसकी वे केशकुञ्ज घन मेघमालिकायें
लटक रही थीं विधु के समीप शिथिलता से।
तरुवर तृण सब थे मौन, क्योंकि राजमहिषी,
महीप के सुअंकम-मे जानुशिरा मुख —
राजा का अवलोकती थी
एक स्नेह रंजित विलास दृष्टि रेखा से।
'कितनी सुन्दरी हूँ मैं' रानी ने पूछा निज
चम्पा सी सुरङ्ग उन बाहुवल्लरियों का
मान मुद्रा मे मुक्त करते हुये प्रसार
'उतनी सुन्दरी हो स्वय जितनी सुन्दरी
है कला'।
रानी फिर बोली कुछ ललाट रेख भंगिमा से
'यह तो कुछ प्रहेलिका सी हीन अर्थ लगती बात
स्पष्ट शब्दो में सविस्तर कुछ कहिये और'
'अतुल है तुम्हारा सौन्दर्य्य अवर्णनीय भी है
सिन्धु मे समाता है न रोदसी मे आता वह
सबके हृदय कक्ष मे नव प्राण बना बैठा है'।
ठीक इसी समय उस निर्जन से शिवा-शिव
निकले, इहलौकिक प्राणियों के हित चिन्ताहेतु
जिन्हें मुग्ध विसुध राजदम्पति ने देखा नहीं।
गौरा ने देखा कुछ शकर अस्तव्यस्त से थे
बोली, 'देव देव ! आप क्या विचार करते हैं !'
'मैंने इस अवनिप को एक दे दिया है श्राप
मूढ जन रे ! तू कभी पा नहीं सकेगा प्यार

जिनकी चिन्ता में तूने मेरी अवहेलना की।'
बोलीं शिवा, 'आपने विवेक से न लिया काम
आपको तो जान नही पाते हैं ब्रह्मा विष्णु—
फिर यह मर्त्य लोकवासी कैसे जान सकता है !
और फिर,
प्रेम की प्रगति के क्षम्य होते अपराध सभी।
अच्छा मैं देती वरदान एक रानी को
प्रेम की तृषा हो अमिट तेरी राजकन्यके औ'
जन्म जन्मान्तर में इसी प्रिय की हो चाह।'

* * *

दैव भी तो रहता प्रेमियों के प्रतिकूल सदा
प्रात हुआ जागा जग जाग उठे जगत प्राण
कणकण रवि रश्मियों ने स्वर्णमयी
कर दी धरा।
रानी जगी किन्तु जग पाया नही उसका प्रिय
उसके चरणतल में कही काट गया विषधर था।
दूर गया देख धन-जीवन को अपने तब
अक्षय अखण्ड धन जीवन की स्वामिनी ने
गहरी भरी आह, हुई मूर्च्छिता अचेतना युत
रानी पतिप्राणा राजशव के साथ चिता चढ़ी
सूर्य अस्त हुआ, शोकार्त मौन पक्षी जन
छोड़ असितभूति गई प्रिय की अनुगामिनी वह
सध्या रागसयुता विरागमयी होती हुई।

(२)

दशवें दिन रानी ने उसी राजमण्डल के
एक विप्रवंश में लिया फिर पुत्र रूप जन्म।
उसी काल राजमत्री की मुग्ध गृहिणी ने
रूपवती ऊषासी सुकन्या को जन्म दिया।

तारा थी प्रकाशवती उसकी पलक परिधियों में
एक और एक ही थी सांध्यक्षितिज तारिकासी।
यह था उस तक्षकक्षत राजा का द्वितीय जन्म।
विप्र राजमंत्री के गृह का था शिक्षा गुरु।
समय को व्यतीत होते लगती है कितनी देर
संध्या और प्रात के चले वे शीघ्र शीघ्र चक्र
निकल गये लघु लघु निमेषों में षोड़श वर्ष।
इतनी अवधि के उपरान्त शान्त वह कुमार
सर्वकला विद्याविद् निकला गुरुद्वार बहिर
कल्पवृक्ष से सुरम्य स्निग्ध कुसुम कोरकसा
यौवना सा, काया की प्राणमयी चेतना सा
सचिव ने विप्रपुत्र का अनेक बार
सुन रक्खा था यश।
वह भी थी सकल गुणज्ञान की अपार निधि ही।
एक दिवस राजमंत्री के स्पर्णगृह मे बडा
वसन्तोत्सव का अपूर्व समारोह हुआ।
वहाँ विप्र पुत्र और 'सुकन्या' से एक बार
कला की अनूपता स्वरूपता पर हुई बात।

उसने कहा 'नारी कला' का सर्वश्रेष्ठ रूप।
पा ली थाह मानस की मनीषा 'सुकन्या' ने
फिर कुछ दृगों की भावमयी मृदुभाषा मे
कहनी प्रारंभ की अपने हृदय की बात
'मेरे प्रति अपने पास कितना मान रखते आप'?
'जितना एक पुरुष रख सकता नारी के प्रति'—
'और आप मेरे लिये'?
'इतना जो न सिन्धु में समाता है न आता है
धरा व्योम विस्तृत विशाल विश्वप्रान्तर में'

वही पूर्व जन्म के सुस्पष्ट भाव सस्कार
रोके तो अनेक बार गये किन्तु रुक न सके
छिप नहीं पाते जिस भाँति प्रीति के विचार ।
विप्रपुत्र थोडी देर बैठा रहा स्तब्ध भीत
और बोला देवि !
'तुम्हें दुख देता हूँ क्योंकि मैं तुम्हारा स्नेह
लौटा रहा हूँ तुम्हें तुमको देख निज को देख
धनी यह तुम्हारे पास दीन की धरोहर है ।'
भाग्य से दु.शासित वे प्रियजन इस पृथ्वी के
पृथक हुये और शीघ्र बीत गये आठमास
सचिव पुत्री के वे बडे बड़े आठ कल्प ।

किसने उठा पाया है निराशा का अतुल भार
चन्द्र छिपता है तो कुमुदिनी भी होती म्लान
चन्द्रमा की अपरपक्षीय क्षीयमाणा उस
कोमला कला की भाँति रम्य विधुवदनी वह
हन्त प्राण पल पल क्षीण होती चली गई ।
एक दिन उसके प्राण विहग तनपंजर से
देखते ही देखते उड़े वे छोड़ गये पड़ा
स्वर्ण प्रागण में धूल के उस जड़ बधन को ।
मनुज सामाजिक है यही प्रकट करने को
मन्त्री के गृह में संवेदकों की भीड़ हुई
विप्र पुत्र ने तब विदा होते अगना को देख
बड़े बड़े नव्य नयन मोतियों की भेंट दी थी
जिसे देख मरणासन्न षोड़शी की आँखों मे
मेघ घिर आये बह चला क्षुब्ध पारावार
मानों ममता के लिए दो के प्रतिदान रूप
रत्नो का कहना क्या रत्नाकर किया दान

एक बार जीवन की फिर अभिलाषा हुई।

*   *   *

विरहीजनों की कब असफल गई है आह
शलभ जलता है तो क्या बढ़ती नहीं दीपज्वाल ?
'स्नेह हानि होती है जलते क्यों हृदय दीप'
कहते हुए विप्रपुत्र देव मन्दिर में जहाँ
कर रहा था याचना वही प्रिया पाने की
सहसा गिर गया उसे हो गया असह्य,
व्यथा चिन्ता का विपुल भार
और तब अकस्मात् हृदयगति बन्द हुई।
भावी के अमिट नियम सभव बना देते हैं
कितने अशकित असभव विधानों को।

(३)

विप्रपुत्र अगले जन्म में फिर वणिकपुत्री हुआ
जिसे पूर्व जन्मों की कण कण भर रही याद।
खोज देश देश की वणिक-बालिका ने स्वयं
किन्तु उसे अपने जन्मान्तर का प्रिय न मिला

*   *   *

एक बार करती हुई अर्चना शिवा की मौन
माँगने लगी वह वरदान जगज्जननी से
'थकित हो चुकी हूँ बहुत खोजते मैं अपना प्रिय
अम्बिके ! मुझे तू एक पक्षी बना दे क्यों न
पल भर मे उड कर पहुँच जाऊँ उस देश जहाँ
मेरे आराध्य मेरे प्राण-प्राण रहते हैं।'
'एवमस्तु' सुना उस बाला ने औ' तुरन्त
मन्दिर से उठा घोर धूम का बवंडर एक।
दौड़ा लोक कौतुक से किन्तु वहाँ था ही क्या ?
एक श्वेत पक्षी भ्रान्त पंख फड़फड़ाता हुआ

निकला और सघन रसाल शाखाओं मे
लज्जा की काया सा छिप कर बैठ गया।
'पी कहाँ' 'पी कहाँ' की चकित पुकारों से
ध्वनित हो उठे थे सब जनमन जनगृह
जनपथ धराव्योम।
वही दिन था कि अद्यपर्यन्त हम सब लोग
'पी कहाँ' के बोल एक पक्षी से सुनते हैं।
उसे याद अब भी है कि वह कभी 'रानी' था
जोधूराम कहकर चुप हो गया कहानी, और
मैं भी थोड़ी देर चुपचाप पड़ा रहा स्तब्ध।
'जानते हो जोधूराम भला इस पपीहे का
प्रिय है कौन जगती में ?
मैं हूँ कवि, कवि ही है उसका प्रिय जिसको है
असफल प्रेम, प्रेमियों से पूरा और पूरा मोह।
सिमटकर दृगों में आ गये हैं सरित् सरसी सब
किन्तु इस हृदय की अमिट प्यास बुझ पाती नहीं
उसे विरह पीड़ा है और दुखी रहता मैं'।

बोला विज्ञ कथा कार 'कवि यह तुम्हारी
भावुकता समुचित ही है—
क्योंकि तुम सबसे अपनापन का रखते भाव
यही वरदान तो तुम्हारा अभिशाप भी है
कुछ भी हो विचार किन्तु यह तो ध्रुव सत्य है—
कि पुरुष और पक्षी का सभव सम्बन्ध नहीं।
उसे खोजने दो इस अग जग में अपना प्रिय
किन्तु तुम प्रिया की कुछ कामना करो ही मत'।

कवि है मनुज उर की भावुकता

और 'पी' अभीष्ट
जीवन की पूर्णता है—
किन्तु वह जोधूराम ?
जोधूराम व्यक्ति का विचारक
है ज्ञानवान ।
सजा तथा रानी संघर्ष द्वन्द्व
जीवन के ।
शिवा शिव जीवन की छलना के भ्रान्त रूप
और यह पपीहा
अमिट वासना हमारी है

गीत

मेरे अरमान न तोलो
नभ के निस्सीम हृदय से
तारो के गान सँजो लो।

फणि हाथों मे उलझाओ
मणि से शशिभाल सजाओ
हीरों के मुखबन्धन को
मुख से अनजान न खोलो।

मृदुवात पात-पथ खोये
मंजीर मुखर हैं सोये—
इन टूटे प्राचीरों में
सब है सुनसान न बोलो।

बाँधे न तुम्हारा तन, मन
आँसू अतृप्ति की उलझन
अलियों की सुधिगलियों में
छवि के धनवान न डोलो

जीवन-संध्या

जीवन की संध्या दृष्टि पथ बन्द करती हुई
रोकती हुई सी मौन चेतनगति आ रही है
मन्द मन्द चरणों से
मन्द मन्द चरणों से।
देखी किरण वेला किन्तु उसके ध्वस शेषों का
एक भी सुनहला चिह्न दृष्टि नहीं आता अब,
भूले हुये थे प्राण—
अपनी ही प्राणता को।
भूला हुआ था ज्ञान जग को, जगदर्शन को।
एक कल्पना थी, जड़चेतन की शासिका वह
अपने सङ्केतों से विश्व हिला देती थी।
नयनों मे रूप का अरूप अर्थ रहता था।
व्यस्त मध्याह्न,
सृष्टि कण कण में स्वर्णगान
रचता हुआ आया—
कवि कल्पना सा चला गया,
यौवन मे पहुँची हुई सरलता के कौतुकसा,
जिसके रङ्गस्थल पर धूप और छाया के
अभिनय कलामय से

मन-प्राण मोद पाते थे।
वह था एक अति लघु क्षण
जग था रम्य दर्शनीय
पल में परवशता से युग की बात हो न सकी।
झाँकने लगा अजान नभ के वातायन से
निद्रित तृतीय प्रहर।
एक ही पल मे सब वह रूप रङ्ग बदल गया।
अब भी मध्याह्न ही का धूमिल भ्रम जागता है
और उसके अन्त की सोती उदासीनता है।
किन्तु दिखलाई दूर
देने लगी धूलिमयी सध्या,
यौवन मे थे जिसके स्वर्णाभ स्वप्न।
निकल आई दो एक रूपाभ तारिकाये
दूर क्षितिज प्रान्तों में
रोदसी के उर में मूल रोग कीटाणुओं सी
सत्य के विचारक की चिन्ता को कीलती—
तिरस्कृत भावनाओं सी,
आप बार बार दृष्टि मन मे बैठ जाती हुई।

* * *

सध्या अविरामिनी
विरामदायिनी वह शान्त
महानिद्रा के पूर्व-परिचय सी आ रही है।
आ रही निशा की अग्रदूती मृत्यु छायासी।
आ रही अँधेरी निशा दीर्घ युग कल्पों सी
दिवस व्यापारो को अपनी ही रुचि से हम
कितने स्वतन्त्र अमित बार बदल देते हैं।
निशा परिवर्तन है,
अमिट क्षण दातृ वह जिसकी घटना मे हम

आप बदल जाते हैं।
रात मरण काया-इतना ही तो करती हैं।
जीवन वन में नमे से तरु वर वर भावों को
व्योम शायिनी वह धराशायी कर देती है।
बीते युगों की एक क्षीण प्राण आभा भी
रहती नही अपने साथ।
चित्रित अतीत की मिटाकर मधु पृष्ठभूमि
भावी का चित्र एक भव्य बना देती है,
संध्या की स्वामिनी अमानिनी चितेरी रात।

* * *

जीवन की संध्या द्रुत जीर्ण शीर्ण पतझड की
क्रीडासी आ रही है।
कह लो शीघ्र अपनी बात।
सन्ध्या करती सचेत
जीवन मे सोये को
क्या प्रभात का यश जो जगे को जगाता है।
कह लो ध्वस्त बिखरे जग जीवन का
इतिहास।
कह लो एक अमिट बात—
वह आ रही है रात।
नयनों की परिधि तुल्य पलक बन्द करता व्योम
छाया पथ रचना में अधर खोल देता सा।
इतने बडे पथ से मानों
उसके उड जाते प्राण।
सोता ! मर जाता ! वह
विराट या विराट अंश।
आता फिर पुनः प्रात।

* * *

जग के रक्षक ! जग का
पथ प्रशस्त करते चलो
स्वप्नों को देखना है स्वप्नमय तुम्हारा काम
तुम भी किसी कल्पना में
स्वप्न ही से बहते हो ।
स्वप्न मरण प्राण
आ रही है अमृत्मन्दिर से
जीवन की सध्या अमर
अमरों की माया सी
चुप चुप, चुपचाप
चरणहीन, गतिहीन
शब्दहीन, शब्दहीन
जीवन की संध्या वह ।